Text Dark And Light Within The Book Only

महारथी

मोहनलाल अवस्थी 'मोहन'

UNIVERSAL
LIBRARY
OU_182485
UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81.6/A94M Accession No. G.H. 21

Author अवस्थी, मोहनलाल

Title महारथी । 1953

This book should be returned on or before the date last marked below.

महारथी

[खण्डकाव्य]

रचयिता

मोहनलाल अवस्थी 'मोहन'

प्रकाशक

इंडियन प्रेस (पब्लिकेशंस), लिमिटेड

इलाहाबाद

१६५३] [मूल्य १।)

मुद्रक
पी० एल० यादव, इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

हिन्दी के अनन्य पुजारी

श्रद्धेय पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी 'श्रीवर', एम० ए० (लंदन)

के कर सरोजों में

सादर समर्पित ।

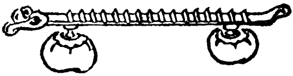

है तन्त्री का काम पत्थरों के उर को पिघलाना,
कवि का काम मूक तन्त्री के सोए तार जगाना।

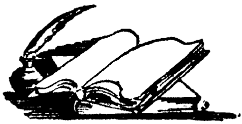

वृन्दावन विपिनविहारी वासुदेव पर
बहती बयार मानों व्यजन डुलाती है।
मस्तक अनन्त का अनन्त अंत पाता नहीं,
लाली अधरों की देख ऊषा शरमाती है।

'मोहन' मधुर मुसकान की प्रभा विलोक
कलित कलाधर की कांति कुम्हलाती है।
मन्दाकिनी जलज से चक्षु अवलोक आभा-
पंकज की पंक में तुरन्त मिल जाती है।

वीणापाणि उठा ले अपने कोमल कर में वीणा,
और मिला ले आज दुःख स्वर में सब तार प्रवीणा!
सफल हो सके भक्त कार्य में वरदे ऐसा वर दे!
सुमधुर ध्वनि से विस्मृत गीतों को फिर झंकृत कर दे।

तंत्री पर है एक, एक कर रख दे कवि पर माता!
तंत्री का तो है कवि से माँ आदि काल से नाता।
है तंत्री का काम पत्थरों के उर को पिघलाना,
कवि का काम मूक तंत्री के सोए तार जगाना।

कुछ और

अवमानना से आवृत कर्ण के जीवन ने मेरे हृदय में सहानुभूति उत्पन्न की। जग-प्रदत्त शूद्रत्व से उसको जो उपेक्षित तथा अपमानित होना पड़ा, उससे मुझे हार्दिक पीड़ा हुई। इसी का परिणाम 'महारथी' आपके सामने है।

खंडकाव्य का प्रारम्भ १५ मई १९४६ को हुआ था और १९४७ तक लगभग आधा समाप्त हो चुका था, परन्तु कई कारणों से शेष १९४९-५० में पूर्ण हो सका।

आदरणीय पं० देवीदयाल चतुर्वेदी ने इस पुस्तक की पाण्डुलिपि देखने की कृपा की है और श्री पं० पृथ्वीनाथ चतुर्वेदी, एम० ए० ने इसे आप तक पहुँचाने में स्नेहवश मेरी पर्याप्त सहायता की है, अतः मैं इनका आभारी हूँ।

अतीत के स्वर्णिम रेखाचित्र में मैंने रंग भरने का प्रयास किया है। कथानक साधारण है, फिर भी आशा है, सहृदय पाठक प्राचीनता में नवीनता खोजने का प्रयत्न करेंगे।

विजया दशमी,
संवत् २०१०
पिपरगाँव,
फर्रुखाबाद

— मोहन

प्रथम सर्ग

अगणित-निशि-वासर जिसने देखे हैं निज जीवन में,
किंतु निराशा कभी नहीं छाई है जिसके मन में;
हैं आघात अनेक शत्रु के जिसने सर पर झेले,
जिसकी छाती पर प्रमुदित होकर लाखों नृप खेले;

चलकर वही विलोकें हम भारत का भाग्यविधाता,
जिसका पतनोत्थान देश का पतनोत्थान कहाता।
देखो तो यह नगर आज लगता है कितना मनहर!
बँधे हुए हैं द्वार-द्वार पर तोरण कैसे सुन्दर!

नगरद्वार यह आज अलंकृत ऐसा किया गया क्यों ?
झूम रहे क्यों चंचल ध्वज प्राचीरों पर प्रमुदित यों ?
लेकिन परिसर आज रिक्त-से हैं दिखलाई देते,
आज बालकों के भी कलरव नहीं सुनाई देते।

प्रहरी गण दिखलाई पड़ते आते इधर-उधर को,
नगर निवासी कहाँ गए हैं जाने तजकर घर को ?
इस कौशल से गया आज है क्यों यह मंच सजाया ?
क्या है कोई नगर देखने स्वर्गलोक से आया ?

इस शोभा की समता बोलो त्रिभुवन मध्य कहाँ है ?
कई लाख की भीड़ विलोको तो एकत्र यहाँ है।
मंच देखकर इन्द्रासन भी मन में शरमाता है,
और बैठने को क्षण भर ही वासव ललचाता है।

पूर्ण मंच पर कनक कँगूरों का ही बस शासन है,
है यह मंच हस्तिनापुर का अथवा कमलासन है!
मारुत प्रेरित कंचन कंदुक रह-रह लहराते हैं,
अपनी सुन्दरता के ऊपर कितना इतराते हैं!

दर्शक दल के चपल चक्षुओं को अति विकल बनाते
और चतुर्दिक रविसम अपनी जगमग द्युति फैलाते।
एक जगह पर रखे हुए हैं अस्त्र-शस्त्र बहुतेरे,
जिनकी धार तृषित लोचन हैं बहुत देर से घेरे।

सिंहासन पर अरे, यहाँ तो भूपति भी बैठे हैं!
पांडुपुत्र जाने क्यों बैठे मन में यों ऐंठे हैं?
युद्ध-कला-वारिधि देखो वे द्रोण चले आते हैं,
सूर्य-चन्द्र से पिता-पुत्र दोनों शोभा पाते हैं।

समय निहार द्विजों से गुरु ने मंगल पाठ कराया,
फिर कुछ राजकुमारों ने निज रण-कौशल दिखलाया।
और उन्होंने हाथ दिखाए गज तुरङ्ग पर चढ़कर,
कुछ ने प्राप्त प्रशंसा की आपस में द्वन्द्व युद्ध कर।

लख स्थिरता, चापल्य, मुदित हो सबने शीश हिलाए,
भीमसेन, दुर्योधन लेकर गदा हाथ में आए।
शौर्य मापने को दोनों ने अपने हाथ बढ़ाए,
मानों दो गिरिशृंग परस्पर क्रोधित हो टकराए।

वे कटिबद्ध वीरवर अपना-अपना बल दिखलाते,
कर गज-सा चिक्कार भ्रकुटि कर वक्र खूब चिल्लाते।
उन्हें गर्जते देख भला दर्शक गण क्यों चुप रहते ?
कुछ थे भीमसेन की, कुछ दुर्योधन की जय कहते।

दुष्परिणाम विचार युगल वीरों को दूर हटाते,
कर गम्भीर घोष, बोले आचार्य मन्द मुसकाते—
"उठो खड़े हो पार्थ, युद्ध में सदा तुम्हारी जय हो,
आज तुम्हारे रण कौशल से जनता का परिचय हो।"

यह सुन अर्जुन उठे शिष्टता पट में आवृत मद से,
रंगभूमि में आए अवनि कुचलते अपने पद से।
बाण चढ़ाकर फिर धन्वा की प्रत्यंचा ज्यों छोड़ी,
ज्वाल माल विकराल वर्त्तुलाकार तुरत त्यों दौड़ी।

देख वह्नि-वेष्टित निज को, दर्शक दल कुछ चकराया,
वरुण अस्त्र अविलम्ब पार्थ ने त्यों ही तुरत चलाया।
अनल हो गया शांत, भ्रांति मिट गई सभी के मन की,
अर्जुन-रण-कौशल बखानती थी जिह्वा जन-जन की।

भूमि तथा भूधर अस्त्रों से भूतल, गिरि प्रकटाते,
अन्तर्धान अस्त्र द्वारा फिर निज को कभी छिपाते।
कभी प्रलम्ब दीखते थे, वे छोटे कभी दिखाते,
अभी धरणि पर पलक मारते स्यन्दन पर चढ़ जाते।

पाँच विशिख से बेध लौह शूकर को मार गिराया,
एक बाण ही किन्तु चलाते देख सभी ने पाया।
फिर वायव्य चलाकर पर्जन्यास्त्र प्रभाव दिखाया,
भरी सभा के सब सभ्यों को इससे चकित बनाया।

नाना भाँति अस्त्रचालन-लाघव इस विधि दिखलाया,
रंगभूमि के शांत अनिल को बिलकुल विकल बनाया।
दे पर्याप्त समय उनको निज कौशल दिखलाने को,
इंगित द्वारा कहा द्रोण ने उन्हें बैठ जाने को।

अपनी धवलित कीर्त्ति कौमुदी पृथिवी पर छिटकाते
बैठ गए अर्जुन निज आसन पर शशि से मुसकाते।
वे उस काल कौरवों को थे मन में हेय समझते,
सब कौरव उनके आगे नक्षत्र तुल्य थे लगते।

इसी समय झट हुआ द्वार पर सहसा एक धमाका,
विज्ञवरों ने समझा जिसको भीषण रण का साका।
सबने देखा एक युवक आता स्वच्छन्द विचरता,
सपद धराधर ज्यों मराल गति से आता हो चलता।

दिव्य प्रभा से दिनकर-सा मुख था कर रहा उजाला।
उनके तनु का था मधु के सम पिंगल वर्ण निराला।
आकर बोला—"मैं अर्जुन कृत कार्य दिखा सकता हूँ,
और धनंजय को रण के दो हाथ सिखा सकता हूँ;

"एक बाण से ही धरणी-आकाश हिला सकता हूँ,
अवनि और अम्बरतल के भी छोर मिला सकता हूँ।"
यह कहकर वह लगा एकदम निज विद्या दिखलाने,
और कौरवों के मुरझाए मुख की कांति बढ़ाने।

गरजन कर फिर कहा वीर ने "सुनें सभासद सारे—
द्वन्द्व युद्ध के लिए शीघ्र सम्मुख हो पार्थ हमारे।"
लगे परस्पर दर्शक भी अस्फुट स्वर में कुछ कहने,
कृपाचार्य, आचार्य लगे असमंजस-सरि में बहने।

हाय हाय ! यह अरे, एकदम विपति कहाँ से आई ?
सबको दिया रंग में मानो होता भंग दिखाई।
कर विचार 'यह युवक वीरवर राजपुत्र निश्चय है,
अतः उचित है बहुत जानना, इसका क्या परिचय है ?

'अच्छा हो, यदि दोनों वीरों का परिचय हो जाए,
शायद नाम पिताओं का इनकी मैत्री करवाए।'
यही सोच मन में कर निश्चय कृपाचार्य अति भोले,
हाथ उठाकर उन्हें शांत करके फिर ऐसे बोले—

"तुम दोनों प्रस्तुत, फिर भी होगा यह युद्ध अधूरा,
अतः प्रथम थमकर थोड़ा दो अपना परिचय पूरा।
यह क्षत्रिय बालक अर्जुन कुंती का प्यारा सुत है,
शीलवान, सम्मान्य, धर्मरत और क्षात्रगुणयुत है।"

यह कर श्रवण विवर्ण हुआ वह वीर, तनिक सकुचाया,
खेद प्रकट कर स्वेद त्वचा छिद्रों से बाहर आया।
पर रवि ओर निहार गर्व से उसने शीश उठाया,
मानो विकट भुजंगम ने डसने को फन फैलाया।

"है पैतृक सम्पत्ति वर्ण अथवा कोई बंधन है ?
बस यह केवल सबल वर्ग का अपने मन का धन है।
कर प्रयत्न कोई भी क्षत्रिय, ब्राह्मण-पद पा सकता,
नीच कर्म रत होने पर है शूद्र कहा जा सकता।"

"किन्तु सदा समकुल वालों का ही संगर होता है,
हीन वर्ण से रण करने में वंश मान खोता है।
क्षत्रिय क्षत्रिय, नृपति नृपति ही साथ साथ लड़ता है,
अतः प्रथम परिचय होना आवश्यक आ पड़ता है।"

"किन्तु सिंह ही सिंहासन पर बैठेगा सच मानो,
जो सिंहासन पर बैठा हो सिंह उसी को जानो;
हव्य हविष्य सुरों को ही है श्वान नहीं खा सकता,
वीर वही जो रणहित वीरों के आगे आ सकता।

"फिर क्या कारण रंगभूमि में केवल क्षत्रिय आए ?
क्षत्रिय वही यहाँ आकर जो अपने हाथ दिखाए।"
उचित कथन यह महारथी का कौरवपति को भाया,
उसने अपनी वाणी से सारा आकाश गुँजाया।

बोला—"यह न महीप पार्थ अतएव न रण करता है,
नृप होने का दम भरता पर वास्तव में डरता है;
इससे मैंने अंगदेश का राजा इसे बनाया—"
कहकर तत्क्षण कौरवपति ने कुंकुम थाल मँगाया।

फिर राज्याभिषेक सम्बन्धी कार्य पूर्ण कर सारा,
भरी सभा में अंगराज कहकर झट उसे पुकारा।
इतने में ही हर्षित, गद्गद, पुलकित अधिरथ आया,
धर्मपिता को देख अंगपति ने झट शीश नवाया।

अंगराज इस अधिरथ का ही सुत है सबने जाना,
अतः भीम ने कहा गरजकर देकर उसको ताना—
"कश लेकर रथ हाँको, तुमको शस्त्र न शोभा देते,
तुम जैसों के साथ युद्ध कर वीर न अपयश लेते।"

कौरवपति ने कहा—"भीम है बुरा इस तरह बकना,
सदा असम्भव बुद्धिहीन का झट निर्णय कर सकना।
मूल जानना महापुरुष, सरिता का बड़ा कठिन है,
ज्ञात सभी को है जो जन्म तुम्हारे का कारण है।

नहीं निर्गुणी मनुज गुणी को कभी जान सकता है,
क्या है कौन ? न इसका हो कुछ उसे ज्ञान सकता है ।"
"हमें ज्ञान है, सूतपुत्र यह क्या संग्राम करेगा ?
त्याग वंश की परम्परा यह नूतन काम करेगा ?"

अर्जुन बोले—"व्यर्थ खड़ा यह काँव-काँव करता है,
क्या शृगाल को देख सामने सिंह कभी डरता है ?
तज मर्यादा भला शूद्र से संगर कौन करेगा ?
करने को अपूत निज शर शोणित से कौन भरेगा ?

"जहाँ शूद्र रहता है वह भू सिसक-सिसक रोती है,
निःश्वासों से त्वरित अपावन वायु सकल होती है ।"
गरजा दुर्योधन—"इसका उत्तम परिणाम नहीं है ।
ऐसी बातें करता कोई अच्छा काम नहीं है ।

"नहीं कर्ण का, तुमने यह मेरा अपमान किया है,
क्योंकि मांडलिक इसको सबने मेरा मान लिया है ।
अर्जुन इसका बदला तुमसे शीघ्र लिया जाएगा,
इसका उत्तर उचित युद्ध में तुम्हें दिया जाएगा ।"

हुई विसर्जित सभा हृदय में क्रांति लिए भारी-सी,
संध्या निकट नगर में दिखलाती थी अँधियारी-सी।
नर क्या, खग भी अब नीड़ों की ओर लगे थे चलने,
लगे कर्ण-दुर्योधन मिलने, अर्जुन युग कर मलने।

द्वितीय सर्ग

अरुण कपोल क्षितिज के प्रमुदित अम्बर चूम रहा था,
धरणी का प्रति रोम-रोम पुलकित हो झूम रहा था।
दिव्य प्रात के साथ मनोहर प्राची फूल उठी थी,
धीर समीर क्रोड़ कर सुरभित कलिका झूल उठी थी।

सोते जग का सोना लेकर अपना सोना देकर
एक उटज पर डाला दिनकर ने अपना स्वर्णिम कर।
उटज छटा छहराता अपनी प्रमुदित खड़ा हुआ था,
प्रकृति गोद में ही पलकर वह इतना बड़ा हुआ था।

गंधवाहिका तरुगण चुम्बन करने को रुक जाती,
प्रेम विवश तरुओं की डाली भी चुपके झुक जाती।
तरुगण बारबार रह-रहकर सादर नत हो जाते,
निशि-वासर लतिकाओं के चरणों पर कुसुम चढ़ाते।

लोल लताएँ कर आलिंगन स्नेह दिखातीं दूना,
मिल सकता क्या कहीं प्रेम का इतना शुद्ध नमूना ?
रात्रि समय शशिदेव वहाँ पर मोती बरसाते थे,
प्रातः होते उन्हें हंस चुपके चुगने आते थे।

अपलक नयनों से लखता था कर्ण कुटीर निकाई,
अंकित होती थी उसके उर पर यह छबि मन भाई।
भृगुकुल भूषण परशुराम का यह पावन आश्रम था,
विश्व-मार्ग के पथिकों का हर लेता सारा श्रम था।

केवल उस तपसी का ही बस वह अधिवास नहीं था,
पक्षी, मृगगण, गोगणादि का भी चिरवास यहीं था।
आश्रम की छबि का नेत्रों में चित्र विचित्र बनाता,
खड़ा हुआ था कर्ण मनोहर आभा लख सकुचाता।

शुक, केकी, सारिका मनोहर बोली बोल रही थी,
बधिर कर्ण में भी श्यामा अमृत-सा घोल रही थी।
रिक्त चषक जैसे लगते थे सर में फूले उत्पल,
तट पर नव संसार बसाए खड़ा हुआ था चलदल।

आगन्तुक का स्वागत उसकी डाल-डाल करती थी,
हरियाली सदैव सबके पदतल चूमा करती थी।
खड़े हुए थे भ्राता-भगिनी सम नीबू-नारंगी,
खग-गण बना रहे थे उनकी शोभा रंग-बिरंगी।

जलपत्ती होकर प्रसन्न थे तैर रहे सर-जल पर,
चरण चिह्न थे बने 'राम' के भू के वक्ष:स्थल पर।
उन्हें देख, दे धन्यवाद उसने प्रभु को शिर नाया,
मानो आज यहाँ आकर उसने था सब कुछ पाया।

देख अलौकिक आभा ज्यों ही ऊपर दृष्टि उठाई,
भव्य मूर्त्ति झट एक तभी कुटिया से बाहर आई।
पद में शोभित रुचिर खड़ाऊँ मीन केतु मदहारी,
परिहित कटि में अजिन सुपावन कर में माला न्यारी।

वक्षःस्थल अवलोक पापियों की छाती फट जाती,
चकाचौंध कितनों को थी नेत्रों की ज्योति बनाती।
उत्थित भाल विलोक प्रणत हो गए सहस्रों आगे,
लाखों प्राण बचा आगे से समर भूमि तज भागे।

त्वचा स्वयं सन्नाह बनी, थे नेत्र बाण बरसाते,
जिनके मारे हुए त्रिलोकी में भी त्राण न पाते।
यह थे वही जिन्होंने अरि मुण्डों से भू पाटी थी,
एक एक भुज सहस्रार्जुन की क्रोधित हो काटी थी।

हिंसा से मुँह मोड़ आज थे लगे हुए वे जप में,
और लगाया था अपना पूरा मन पावन तप में।
आगे बढ़ा कर्ण, गुरु के कोमल चरणों को चूमा,
पुलकित होकर गुरु का कर भी उसके सर पर घूमा।

देख कर्ण को चकित रह गए याद न अपनी आई,
मूर्त्तिमती अभिलाषा मानों सम्मुख पड़ी दिखाई।
विस्मृत हो, आशा-समुद्र में लगे एकदम बहने,
"कौन तात तुम, कैसे आए, ?" लगे कर्ण से कहने।

"यह ब्राह्मण बालक भगवन् तव सेवा हित आया है,
वे बोले हर्षित हो "बस मैंने सब कुछ पाया है;"
भीषणतम नैराश्य तिमिर में बन प्रकाश सम आ तू!
मम अनिद्र हृदय को बेटा, सुख की नींद सुला तू!"

× × ×

अब कौशेय वस्त्रधारी था नग्न दशा में रहता,
अंगराग चर्चित तनु उसका था पावक से दहता।
भूत द्वेष का जिस मनुष्य के सर पर चढ़ जाता है,
फिर वह कार्य असम्भव भी सम्भव कर दिखलाता है।

शीत, घाम सब कुछ वह था हर्षित होकर सह लेता,
लेकिन पावस में था वज्रायुध से यह कह देता—
"कह देना निज सुत से बस कुछ काल बाद आऊँगा
और मृत्यु संदेश साथ में मैं तेरा लाऊँगा?"

तृतीय सर्ग

रविसुत ने अधिकार कर लिया पूरा गुरु के मन पर,
भला न क्यों भगवान् द्रवित होते फिर अपने जन पर ?
अपने से भी अधिक बताने का प्रयत्न करते थे,
सोता तब उसके कानों को मंत्रों से भरते थे।

बिना शिष्य के गुरु को क्षण भर चैन नहीं मिलती थी,
श्रद्धा और स्नेह दोनों में होड़ वहाँ चलती थी।
किन्तु अंत में हुई एक दिन उसकी विद्या पूरी,
तब आई सामने अचानक दोनों के मजबूरी।

जीवन में संयोग साथ प्रतिक्षण वियोग रहता है,
दुख में है सुख, सुखावरण में दु:ख छिपा रहता है।
होने पर संयोग, मुदित हम जितना ही होते हैं,
उतना ही वियोग होने पर सिसक-सिसक रोते हैं।

उर भर आया शक्तिहीन हो गई राम की वाणी,
दुखी न हों क्यों साथ रहे जब अब तक दोनों प्राणी ?
केवल दिन भर कमल साथ रवि के रहने पाता है,
वह भी सूर्य अस्त होने पर झट कुम्हला जाता है।

"भारी-भारी-सा मम अन्तर आज बहुत अकुलाता,
तब प्रात: प्रस्थान प्राण में है विषाद उपजाता।
मेरे उर का मंथन क्या तू बेटे जान सकेगा ?
दुखी मनुज की दशा तात, क्या तू पहचान सकेगा।"

"हे गुरुवर, हे प्रभो आपने विद्यादान दिया है,
पुत्र तुल्य कर स्नेह सदा मेरा कल्याण किया है।
'इसका बदला कभी दे सकूँगा क्या निज जीवन में,
यही सोचता रहता हूँ मैं निशि दिन अपने मन में !"

"मैं भूसुर हूँ, बदले की चिन्ता न लेश है मुझको,
फिर भी एक बात आवश्यक बतलानी थी तुझको।
लेकिन उससे है विशेष आशय न, उसे जाने दे;
कर न व्यग्र अपने इस मन को सदा शान्ति पाने दे।"

"लेकिन", भृगुकुल-हंस-कथन में कुछ आपत्ति उठाता,
बोला कर्ण अधीर तपस्वी को कुछ धैर्य बँधाता—
"जब आज्ञा प्रत्येक आज तक मैंने प्रभु की पाली,
फिर यह आज्ञा आज जा रही है क्यों भगवन् टाली?"

यह कर श्रवण हुई उपचित उस तपसी की उर डालीं,
कृपादृष्टि उसने अपनी रविसुत के ऊपर डाली।
बोला—"क्षत्रिय रहित धरणि जब तू कर दिखलाएगा,
मेरा क्रुद्ध हृदय बस बेटा, तभी शांति पाएगा।

"क्रोध हुताशन में मैंने कितनी आहुति दे डाली;
लेकिन फिर भी दीख पड़ा काली का खप्पर खाली।"
"शेष बच रहे हैं फिर भी क्षत्रिय," रविसुत यों बोला,
धीरे से संदेह द्वार भावी घटना का खोला।

"हाँ मैंने बहु कुण्ड क्षात्र शोणित से थे भर डाले,
भीषण परशु ध्वनि से कितने गर्भपात कर डाले;
शेष बच रहे कुछ फिर भी इससे मन में जलता हूँ,
सोच लिया दैवी विधान के मैं विरुद्ध चलता हूँ।"

"फिर प्रभुवर मुझको हैं क्यों ऐसा आदेश सुनाते ?"
कहा कर्ण ने–"जब प्रभु ही सब क्षत्रिय मार न पाते।"
"मेरे बेटा तू मानव उर से यदि परिचित होता,
तो कर ऐसे प्रश्न, न मेरे उर का धीरज खोता।

"आज शांति मेरे कर को हैं, मेरे पद को, तन को,
है संतोष परशु को लेकिन तोष न मेरे मन को।
महाकाल क्षत्रिय गण का इन नयनों का तारा है,
क्षत्रिय शोणित तिलक विभूषित भाल मुझे प्यारा है।"

"यदि मैं क्षत्रिय होता तो क्या विद्या प्रभो सिखाते ?
वीर जगत में मार्ग प्रदर्शक बनकर पथ दिखलाते ?"
लगा उस समय परशुराम का श्वास तीव्रतर चलने,
रक्तिम होकर मुख-मंडल भी लगा क्रोध से जलने,

बोले—"स्वयं समझ ले इसका उत्तर अपने मन में।
भला तुझे आनन्द मिल रहा है क्या क्रोध वपन में?
द्विज को छोड़ न मेरी विद्या कोई पचा सकेगा,
और न मेरे विषम रोष से निज को बचा सकेगा।

"अपने शुभाचरण से तूने मेरा हृदय जुड़ाया,
अंधकारमय कुटिया में तू दीपक बनकर आया।
फिर क्यों दुख देनेवाले यह वचन आज कहता है?
इससे मेरा उर व्याकुल होकर भीतर दहता है।"

दृष्टिबाण देखा कराल जब भृकुटि चाप पर चढ़ता,
प्रति पल-पल था क्रोध जा रहा परशुराम का बढ़ता;
किया कर्ण ने नम्र निवेदन—"प्रभो शांत हो जायें,
अपने व्याकुल उर की उत्तेजना न और बढ़ायें।"

शिष्य कर्ण का वज्र तुल्य दृढ़ उरु उपधान बनाकर-
लगे राम सोने स्वतंत्रता से कर पद फैलाकर।
निद्रासागर में अपना शैथिल्य सभी खोते थे,
था उद्विग्न हृदय यद्यपि वे पड़े-पड़े सोते थे।

थे इसलिए कभी रह-रहकर वे प्रलाप कर उठते,
कभी हाथ ऊपर ले जाते थे पद कभी पटकते।
इतने में ही एक कीट ने काटा उरु के नीचे,
सहा कर्ण ने शूल सभी वह दृग मींचे ही मींचे।

तनिक देर में रक्त अधिक मात्रा में बहकर आया,
परशुराम को छूकर उसने कुछ रहस्य बतलाया।
उठकर गर्जे—"सच-सच बतला तू रहस्य यह क्या है ?"
कहा कर्ण ने—"मुझे कीट ने बेधा, रक्त बहा है।"

"इतनी असह्य वेदना सहकर भी तू न क्यों कराहा ?"
"सिर हिल जाने के भय से मैं कर न सका मन चाहा।"
"सहकर असह्य शूल तूने है शक्ति दिखाई जितनी,
कभी नहीं ब्राह्मण बालक में मिल सकती है उतनी।

"सत्य-सत्य कह शीघ्र, नहीं तो अभी भस्म करता हूँ,
अंधकारमय, आशपूर्ण तेरा अदृष्ट करता हूँ।"
"सूतपुत्र मैं, क्षमा करो हे क्षमाशील नृप स्वामी !
बस प्रतिशोध भावनावश मैं हुआ कुपथ का गामी।"

"क्षमा न ज्ञात मुझे, मैंने तो शमन, दमन सीखा है।
जिह्वा ने अभिशापों से भीषण नर्त्तन सीखा है।
आशा छोड़, कभी भी मुझसे क्षमा नहीं पाएगा,
अन्त समय में तू निज विद्या सभी भूल जाएगा!

"मूर्ख! शूद्र होकर भी इतना दुस्साहस करता है।
पास मृत्यु के भी आकर मन में न तनिक डरता है।"
"बस-बस अधिक न कहिए मेरा उर विदीर्ण होता है।"
"पर मेरा उर तो प्रकाश से अब विकीर्ण होता है।"

"साधुवाद दीजिए प्रभो हूँ शिष्य तुम्हारा प्यारा,
वाणी में विष-अमृत दोनों की रहती है धारा।"
"शाप और वरदान साथ ही साथ पाँच शर यह ले,
नहीं काल का भी साहस जो इन बाणों को सह ले।

"जब तक पास रहेंगे तेरे तब तक यह रक्षक हैं,
अरि हाथों में पहुँच गए तो फिर तेरे भक्षक हैं।
जा सुख से रह, अब मेरा चंचल मन कुछ निश्चल है,
ईश-अवज्ञा करने का ही आज मिला प्रतिफल है।"

खिन्न बदन था, प्रभाहीन दिननाथ ढला जाता था,
ले गुरु का अभिशाप, कर्ण चुपचाप चला आता था;
चरण प्रकम्पित थे, शरीर था मृतवत् उसका सारा,
सिक्त कर रही थी भूतल को प्रबल स्वेद की धारा।

चतुर्थ सर्ग

अस्ताचल की ओर चले रवि, जलज लगे सकुचाने,
क्षीण निशाकर भी लख, मन में कुमुद लगे मुसकाने।
दिनकर के शासन में शशि की एक न जब चल पाई,
तब संध्या के समय संधि हित नभ में पड़ा दिखाई।

पक्षीगण का कलरव भी अब मंद हुआ जाता था,
शनैः शनैः सारा कोलाहल बन्द हुआ जाता था।
सूर्य-हृदय-अनुराग क्षितिज पर यों स्वच्छंद बना था,
मानो कवि का चिर संचित अंतःस्वर छंद बना था,

पवन परम उन्मत्त पथिक सम झूम-झूम चलता था,
लेकिन अपने प्रिय कमलों को चूम-चूम चलता था।
बिगड़ी हुई परिस्थिति को मानो वह बना रहा था,
रूठ गए थे जलज उन्हें रह-रहकर मना रहा था।

ओझल होने लगी दृष्टि से धीरे-धीरे लाली,
आसमान पर लगी फैलने चादर काली-काली
रवि शासन की बन्दी यामा मुक्त हुई आती थी,
नए-नए वस्त्राभूषण से युक्त हुई आती थी।

माधव का रथ आज चल रहा था अति मंथर गति से,
बढ़ता जाता यथायोग पथ में योगी थिर मति से।
समाधिस्थ बैठा था रविसुत कृष्ण संग स्यंदन में,
विन्दु प्रहार सहन कर जैसे गिरि हो अविचल मन में।

जिनके चरणों के ऊपर योगीगण शीश झुकाते,
चलते हुए पथिक जिनको लखकर मग में रुक जाते।
जिनके इंगित से जगती में नवयुग आ जाता है,
पृथ्वी का इतिहास तथा भूगोल बदल जाता है।

मेघावलि अलकावलि जिनकी हेम किरीट दिवाकर,
लख जिनका मुख कांति हीन हो जाता शुभ्र निशाकर।
गगन मुकुर में जिनके तन की आभा प्रतिबिम्बित है,
लघु से लघु कण में भी जिनकी विपुलकला अंकित है।

सकल भुवन जिनके श्रीमुख पर तन-मन वार रहे हैं,
रविसुत का मुख आज वही श्रीकृष्ण निहार रहे हैं।
जिसकी कृपावृष्टि से मृतकों में जीवन जगता है,
वह घनश्याम कर्ण के आगे चातक-सा लगता है।

अपनी ओर मिलाना था रविसुत को कुछ समझाकर,
बाँध भूमिका सुन्दर कहने लगे कृष्ण मुसकाकर—
"तुम्हें नहीं है ज्ञात, इसलिए हूँ मैं आज बताता,
राधा नहीं किन्तु कुन्ती है वीर कर्ण की माता।"

"कुन्ती मेरी माता हैं! माधव यह क्या कहते हैं!
शूद्र उदर में राजपुत्रियों के भी क्या रहते हैं?
सुत जन्मा ज्यों ही, जिसने लिख दिया भाग्य में मरना,
किंकर्त्तव्यविमूढ़ हुई जो भूली सब कुछ करना।

"निज संतति के प्रति जिसने कर्त्तव्य न नेक विचारा,
उर पर पत्थर धरा पुत्र की ओर न तनिक निहारा।
हृदय अंश भी जो करने में भ्रंश नहीं सकुचाई,
माधव कैसे किसी मनुज की हो सकती वह माई ?"

"जग मर्यादा पालन करना पड़ता जग में रहकर,
चुप रहना पड़ता है अनुचित आघातों को सहकर।
हृदय अंश क्या, प्राणों को भी छोड़ दिया जाता है,
नाता राम और सीता का तोड़ दिया जाता है ?"

"प्रेम किसी का दास नहीं, वह पाशहीन होता है,
वह निष्काम, निरीह, आश-अभिलाषहीन होता है।
वस्तु अलौकिक में बाधा क्या लोक डाल सकता है ?
मर्त्य मनुज क्या अमर वस्तु में जाल डाल सकता है ?

"जग कहता निःस्वार्थ प्रेम केवल माता करती है,
निज संतति को सुख देती है स्वयं दुःख भरती है।
क्या माँ का कर्त्तव्य यही लोकापवाद से डरकर
पुत्र फेंक देना सरिता में उर पर पत्थर धरकर ?

"थीं तब कहाँ, घृणा से जब सब मुझे निहार रहे थे;
सभी सारथी सुत कह कह कर मुझे पुकार रहे थे ?
कोमल नारी हृदय भला क्यों भर न उस समय आया ?
क्यों न उन्होंने आकर उस क्षण मुझको गले लगाया ?

"त्यागा कुन्ती ने, मैं था भूखा-प्यासा मर सकता,
था असहाय, किस तरह प्राणों की रक्षा कर सकता ?
उस क्षण रक्षाहीन कर्ण यदि तड़प-तड़प मर जाता,
तो उनका अधिकार भला फिर मुझ पर क्या रह जाता ?

"राधा ने पालन-पोषण कर मम कल्याण किया है,
मृतक तुल्य को दुग्ध पिला नव जीवन-दान दिया है;
अतः कर्ण ने उसे सर्वथा अपनी माता माना,
उसके चरणों को जगदम्बा के चरणों-सा जाना।"

"तो क्या उनका अब तुम पर कुछ भी अधिकार नहीं है?"
"मेरी तुच्छ बुद्धि तो कहती बारम्बार यही है।"
"यद्यपि शैशव में ही तुमको छोड़ अजान दिया था,
फिर भी अपनी उदरदरी में सब विधि स्थान दिया था।"

"अतः आज से वे मेरी जननी कहला सकती हैं,
लेकिन माता बनने का अधिकार नहीं रखती हैं।"
विद्या विनय विशारद, हो तुम राजनीति के ज्ञाता,
पुरजन परिजन, गुरुजन प्रिय तुम मित्र हृदय सुखदाता।

"चलते रहे अभी तक तुम धर्मानुकूल ही प्यारे!
विश्व, वेद मर्यादा से तुम रहे न अब तक न्यारे।
तुम श्रुतवान समझते हो सिद्धान्त धर्म के सारे,
युक्तियुक्त बातें हैं इससे हस्तामलक तुम्हारे।

"किसी कुमारी का विवाह है जिस नर से हो जाता,
कन्यावस्था संतति का भी वही पिता कहलाता।
सूर्यपुत्र! सारा स्वजन्म वृत्तान्त जानते हो तुम,
नहीं पाण्डु को फिर क्यों अपना पिता मानते हो तुम?

"नारि, पुत्र, धन, धाम जगत् में बारबार मिल जाते,
किन्तु सहोदर नहीं विश्व में पुनः कभी मिल पाते।
और युधिष्ठिर सा भ्राता तो अति दुस्तर है पाना,
जिनका उर नवनीत तुल्य कोमल जग भर ने माना।

"प्रीति, वैर करना दुर्जन से सदा हानि पहुँचाना,
तप्त जलाता, तनु काला शीतल अंगार बनाता।
जैसा धन खाया जाता है, वैसा मन बन जाता,
अंधकार का भक्षण कर, दीपक काजल उपजाता।

"अतः कर्ण है तुम्हें उचित मिल जाना पांडव दल में,
एक-एक मिलकर दोनों ग्यारह हो जाओ बल में।
तुम अर्जुन दोनों के आगे भूतल काँप उठेगा,
हो भयभीत व्योम तम पट से आँखें ढाँप उठेगा।"

"धाम, धरा, धन और द्रौपदी के होगे तुम स्वामी,
भीम, नकुल, सहदेव तुम्हारे होंगे सब अनुगामी।
तुम लोगों के आगे जग में ठहर कौन है सकता?
जिनका एक बाण क्षण भर में महाप्रलय कर सकता।"

"माधव आज आपने मुझको जितनी बात बताई,
उसमें दिखलाई देती है केवल मुझे भलाई।
तव मुखाब्ज से जो पराग सम बही शब्द की धारा,
मैं ही क्या हो गया सुवासित उससे नभ-थल सारा।

"अपनी त्रुटि विरले मानव हैं जग में सहनेवाले,
लेकिन उनसे भी कम हैं कटु हितकर कहनेवाले;
मृदु हितकर वक्ताओं का बिलकुल अभाव है लेकिन,
कहाँ हितैषी मिल सकता है मुझे आप सम मोहन ?

"कुछ विशेष क्षण हैं ऐसे इस जीवन में आ जाते,
जो प्रयत्न द्वारा भी जीवन भर न भुलाए जाते।
कोई क्षण आघात हृदय में ऐसा कर जाता है,
जिसका घाव नहीं मानव मरने तक भर पाता है।

"बीते वत्सर कई, हर्ष छाया था जब उर-उर में,
था प्रणीत जब मंच मनोहर इसी हस्तिनापुर में।
राजकुमारों के कौशल की थी हो रही परीक्षा,
तभी मिली थी मुझे जगत् से अति अनुपम यह शिक्षा—

"जग का अद्भुत खेल किसी का कोई यहाँ नहीं है,
जो विपत्ति में बने सहायक सच्चा मित्र वही है।
देवपुत्र होकर भी मैं था सारथि-पुत्र कहाता,
रो-रोकर ही मैं था अपना जीवन हाय गँवाता।

"रवि, शशि में, तारागण में, इतने विस्तृत अम्बर में,
गिरि के वक्ष:स्थल पर, धरणी में, निर्झर, सागर में;
भाग्यहीन रविसुत के हित तिल भर भी ठौर नहीं था,
था असहाय, अकेला, साथी कोई और नहीं था।

"कहाँ ठिकाना कर्ण अभागा भला जगत् में पाता ?
यदि दुर्योधन परम मित्र बनकर न इसे अपनाता।
इससे कुरुपति का आदेश आज तक मैंने माना,
उसने नहीं किन्तु मैंने ही महायुद्ध यह ठाना।

"अत: नहीं है उचित किसी को झट दुर्जन कह जाना,
ठीक नहीं होता ऐसी भावुकता में बह जाना।
अपने दृष्टिकोण से सज्जन-दुर्जन जाने जाते,
अपने प्रति व्यवहार देखकर सब पहचाने जाते।

"महापाप है साथ मित्र का कुसमय में तज देना,
जगती के सम्मुख मस्तक पर काला टीका लेना।
क्योंकि मनुज जो दुखी देख निज मित्र नहीं रोता है,
वह पापी है, उसके दर्शन से पातक होता है।

"तज कर्त्तव्य मनुज अपना जो ममता में फँसते हैं,
वे असफल होते उन पर जग के सब नर हँसते हैं।
अतः कृष्ण अब आप शीघ्र प्रारम्भ युद्ध होने दें,
वीरों को रण-सागर में सुख की निद्रा सोने दें।"

तिमिर निराशा सम भू के ऊपर घिरता आता था,
पुर की ओर कृष्ण का रथ भी अब फिरता आता था।
उस मानी ने एक बात भी नहीं कृष्ण की मानी,
गूँज रही थी रह रहकर उसके कानों में वाणी—

'नहीं कर्ण का तुमने यह मेरा अपमान किया है,
क्योंकि मांडलिक इसको सबने मेरा मान लिया है।
अर्जुन इसका बदला तुमसे शीघ्र लिया जाएगा,
इसका उत्तर उचित युद्ध में तुम्हें दिया जाएगा।'

पंचम सर्ग

था मध्याह्न निरभ्र गगन पर अंशुमान तपता था,
खड़ा लता-मंडप में रविसुत वेदमन्त्र जपता था।
निज निर्मल मन विश्व वासनाओं से दूर हटाए,
दीनबन्धु-अवतार युग्म भुज नभ की ओर उठाए—

खड़ा हुआ रवि सम्मुख वह यों देख रहा था ऊपर,
मानो अंश टूटकर रवि का अभी गिरा हो भू पर।
उसके मुख को भास्कर-सा ही अनुपम तेज मिला था,
जिसके कारण कुरुपति का सुन्दर मुख कमल खिला था।

थे इस तरह सुशोभित लोचन मानो दो शतदल थे,
अथवा दीन परखने के वे सुंदर निकषोपल थे।
धनुषबाण कर में लेता तो त्रिभुवन थर्राता था,
नहीं काल से भी रण में सम्मुख ठहरा जाता था।

कितने कापुरुषों के हृदय-स्पंदन रुक जाते थे,
लाखों वीर किरीटी उसके आगे झुक जाते थे।
लख वीरत्व, कपिध्वज विजयी होने में शंकित था,
भय से पिता इन्द्र का भी तन, मन, आसन कंपित था।

जब रण कारण अरिगण निद्रा वारण कर देते थे,
और जागरण व्रत, त्यागी बन धारण कर लेते थे;
दुर्योधन को नयनोन्मीलित कर यह सदा सुलाता,
कर्ण रंध्र में सुधा स्रवण कर सारा दुःख भुलाता।

इसे छोड़ दुर्योधन को जगती सूनी दिखलाती,
इसके बिना विजयलक्ष्मी भी उसे न बिलकुल भाती।
इसके बल पर ही कुरुपति ने महायुद्ध ठाना था,
अंगराज को प्रमुख अंग निज सेना का माना था।

जाप पूर्ण कर आँख अंशुमाली सुत ने ज्यों खोली,
हुआ दृष्टिगत एक दीन त्यों लिये अचानक झोली।
श्वेत श्मश्रु स्वच्छंद सुवक्ष:स्थल पर फहराती थी,
कम्बुग्रीव में सुरभित सुंदर माला लहराती थी।

उसका चंदन चर्चित भाल विशाल आज कुछ नत था,
मानो किसी समस्या के सुलझाने में वह रत था।
था तनुक्षीण, मलीन, दीन, धीरज खोए देता था,
बड़ा दुखी-सा था मानो सचमुच रोए देता था।

लेकर लकुटी कर में आया था वह वृद्ध पुरुष था,
उसका मुख-मंडल बतलाता था वह सिद्ध पुरुष था।
वह था उनमें से जिनका इस निर्बल जग को बल है,
जिनके कोमल पदतल के नीचे सारा भूतल है।

आज किन्तु था खड़ा हुआ वह निज मन में सकुचाता,
भिक्षुक बनकर किस मानव का शीश नहीं झुक जाता?
खड़ा रहा बस मौन, न याचक जब तिल भर भी डोला,

"वन्दनीय विश्रब्ध प्रभो तुम सब विधि पूज्य हमारे,
त्यक्त धराधर निकर विवर कर हो किस हेतु पधारे?
किसी दुष्ट ने क्या प्रभु के मन को संताप दिया है,
अथवा मृगयावश आश्रम में भीषण पाप किया है?

"किसका साहस है जो मेरे असहनीय दम झेले?
कौन सर्प है जो सुपर्ण के आगे निर्भय खेले?"
कर प्रयत्न उस वृद्ध नियामक ने अपना मुख खोला,
धीरे धीरे गरल त्तरण कर याचक ऐसे बोला—

"न्यायी त्तत्रिय राज्यान्तर्गत हमको कौन सताता?
स्वयं सताया हुआ हमारी पर्णकुटी में आता।
अति सुदूर तव नगरी से मैं उत्तर में हूँ रहता,
जहाँ पवित्र प्रेम पय पूरित निर्झर कल-कल बहता।

"बहुत काल ईशाराधन में जब मन खूब लगाया,
मूर्त्तिमान वरदान ईश का बालक बनकर आया।
राम-चरित्र-सुधा-रस हूँ मैं उसको पान कराता,
कभी-कभी तुतला-तुतलाकर है वह प्रश्न उठाता।

"राम और रावण का संगर था कल उसे सुनाया
और प्रसंग तनिक आगे का भी कुछ कुछ बतलाया;
कहा–'कवच कुंडलधारी नव घन सम श्याम मनोहर
राज्य भार रख कंधों पर बैठे हैं सिंहासन पर।'

"बोला पुत्र–'पिताजी कुण्डल कवच हमें लाकर दो,
इस सुन्दर धरणी का धरणीपति तुम हमें बना दो।'
मैंने कहा–'स्वयं ही हैं हम राजा अपने मन के'
'किंतु कहाँ सुन्दर जगती के इस विस्तृत आँगन के?'

"बहुत कहा पर उसके आगे चला न एक बहाना,
पड़ा बाल हठ के आगे ईश्वर को भी झुक जाना।
करता है पयपान नहीं, बस लोट-लोट जाता है,
जिसके कारण सब कुटुम्ब का हृदय चोट खाता है।

"बहुत नरों से कहा किसी ने प्रश्न न हल कर पाया,
दानवीर के गृह का केवल मार्ग यही दिखलाया।
दानवीर पण तुच्छ प्राण का त्वरित लगा देते हैं,
लेकिन अपना प्रण न कभी खाली जाने देते हैं।

"दानवीर ! दारिद्र्य तमिस्रा नाशक सुयश तुम्हारा
फैल रहा देदीप्यमान हो रहा विश्व यह सारा।
आया हूँ इस हेतु, स्यात मुँहमाँगा यहाँ मिलेगा,
जिसे विलोक पुत्र का मुरझाया उर कमल खिलेगा।"

दुष्ट दुष्टता अपनी जीवन भर न छोड़ सकता है,
सज्जन अपनी सज्जनता से मुँह न मोड़ सकता है।
डस लेता है विकट भुजंगम जब भी अवसर पाता,
लेकिन फिर भी साधु सदा उसको पयपान कराता।

वीर प्रतारण का यह सारा कारण जान गया था,
पहले ही इन वृद्ध महाशय को पहचान गया था।
किंतु कवच का उसने तन से नाता तोड़ा ऐसे,
हो निर्मोक सर्प ने निर्मोही बन छोड़ा जैसे।

बोला अति विनम्र वाणी में प्राण हाथ में देता
और स्थान अपना अविचल इतिहास गगन में लेता—
"प्रभो करें स्वीकार अभिलषित वस्तु सभी सम्मुख है,
प्रभु की आज्ञा पालन करना ही सेवक का सुख है।"

गिरि भी सर पर धर जो ऊँचा शीश उठा सकता है,
एक पाप कण क्षण में उसका शीश झुका सकता है।
फिर जो निरपराध का करता प्राण हरण है ऐसे,
वह नर शीश उठाकर जग में चल सकता है कैसे ?

कह कर 'रहो प्रसन्न' वृद्ध था थोड़ा ही चल पाया,
किसी गुप्त कारणवश पीछे पुनः लौटकर आया।
बोला—"राजन, अब थोड़ा भी मुझसे चला न जाता,
मानो मेरा पद मन-मन भर का है बनता जाता।"

कहा कर्ण ने—"आप बड़ी यात्रा करके हैं आए,
इसीलिए तो शिथिलित पद उठते हैं नहीं उठाए।
पर यह थोड़ा कष्ट न प्रभु को कुछ दुख पहुँचावेगा,
रथ से रथ्या द्वारा मेरा सेवक कर आवेगा।"

याचक बोला—"जीर्ण शीर्ण भिक्षुक का लखकर बाना,
तेरे भ्रमित चक्षुओं ने हे तात, न मुझको जाना !"
ऐसा कौन", वीर बोला—"जो तुमको जान न पाए,
विश्व विदित यह कर्म तुम्हारा जो पहचान न पाए ?"

"तुम उस अति अभिमानी कुन्ती सुत के धर्मपिता हो,
सब शुभ गुण सम्पन्न तथा सुर मण्डल के सविता हो।"
तब याचक ने पूछा यद्यपि निज मन में शरमाया—
"अरे जानकर प्राण किस लिए मेरी भेंट चढ़ाया ?

"अब अर्जुन का तू न सामना रण में कर पाएगा,
पार्थ छीन कौरवदल से जय लक्ष्मी ले जाएगा।"
"यह अतिचार इसी से तुमने अत्याचार किया है,
अथवा दीन समझकर सेवक को यह प्यार किया है।

"पहले ही अर्जुन कंपित था मेरे अतुलित बल से,
इसीलिए तो उसने कुंडल-कवच मँगाए छल से।
हुआ पराजित वह, मैं अपने को कैसे बतलाऊँ,
जब सुरपति को भी निज सम्मुख कर फैलाता पाऊँ ?"

"फिर भी वीर विरोधी का तुमने सम्मान किया क्यों ?
भला पराभव प्राप्ति हेतु यह जीवन-दान दिया क्यों ?"
"भूण खोदने पर भी भू अनमोल रत्न देती है,
सभी प्रहार हमारे हर्षित होकर सह लेती है।

"भूमि जात पंथी को छाया देकर श्रम हरता है,
और दान देता फल का जब वह प्रहार करता है।
अस्तोन्मुख होने पर भी सर्वस्व दान करते हैं,
निजासन्न घन, सूर्य अनेकों रंगों से भरते हैं।

"पावक कण के ऊपर भी घन, वारि विन्दु झरते हैं,
अपने प्रबल विरोधी से भी वे न तनिक डरते हैं।
प्राणों का फिर मोह भला प्रण पूर्ति हेतु करना क्या ?
जिसके लिए हुआ जीवन उस मरने से डरना क्या ?

"मैं स्वान्तः सुखाय ही अब तक रहा सभी कुछ करता,
औरों की क्या मैं तो था निज मन की पीड़ा हरता।
जीवन में प्रति मानव के ऐसा अवसर आता है,
जिसके जाने पर फिर वह जीवन भर पछताता है।

"यह ईश्वर का दिया हुआ अवसर जो खो देता है,
वह कर्त्तव्यहीन अधिकारों से वंचित होता है।
मेरे कर क्यों स्वर्णिम अवसर भला प्राप्त कर खोते ?
हानि कहो क्या, एक पंथ से कार्य अगर दो होते ?"

"वीर धन्य तू जिससे मानव का कल्याण हुआ है,
वे क्षण धन्य हुए जिनमें तेरा निर्माण हुआ है।
निज एषित वर माँग पुत्र, मैं हूँ प्रसन्न अति तुझसे,
तात, मोहवश यह हिमगिरि-सी भूल हुई है मुझसे।"

"सीखा नहीं याचना करना पर मैंने जीवन में,
अतः मुझे लज्जा होती है प्रभो, माँगते मन में!"
"है याचना कहाँ, यह तो है इच्छा-पूर्ति हमारी,
आज भक्त के द्वार खड़ा बनकर भगवान् भिखारी।"

"जब तक तू न माँगता है, कुछ कम संताप न होगा,
किसी भाँति भी दूर तथा यह पश्चात्ताप न होगा।"
भिक्षुक सुरनायक की सुनकर कातर कंपित वाणी,
और चक्षुओं की कोरों में लखकर छलछल पानी,

लगा सोचने अगर याचना करने में परहित है,
तो पितु आज्ञा-पालन करना मेरे लिए उचित है।
"यदि हैं आप प्रसन्न प्रभो, है दयादृष्टि यदि मुझ पर,
तो प्रदान कीजिए मुझे अपनी वह शक्ति भयंकर!"

शत्रु सैन्य तमनाशक रवि सम तीव्र महाद्युतिधारी,
माँगी जब वह शक्ति सूर्यसुत ने अद्भुत जयकारी,
लगे इन्द्र तब पछताने अपने मन में रह-रहकर,
'व्यर्थ विपत्ति मोल ली मैंने माँग माँग कह-कहकर।'

"महाशक्ति है यह, अगणित सैनिक संहार सकेगी,
पर विपत्ति पड़ने पर ही बैरी को मार सकेगी।
इसके सम्मुख आने पर यम भी मन में डरता है,
लेकिन क्षत्रिय, ब्राह्मण ही इसका प्रयोग करता है।

शूद्र करों में जाकर इसकी शक्ति क्षीण हो जाती,
तब यह केवल एक मनुज का ही विनाश कर पाती,
अतः एक मानव का ही बस यह संहार करेगी,
पर अनुचित प्रयोग करने पर उलटा वार करेगी!"

चतुर मनुज हैं जग में तन के गोरे मन के काले,
सरल हृदयवालों के पड़ जाते जीने के लाले।
छुआछूत का नाम स्वार्थ में नहीं लिया जाता है,
अपने लिए विचार शूद्र का किंतु किया जाता है।

षष्ठम सर्ग

इधर सूर्य की प्रथम किरण ने युद्धस्थल को देखा,
उधर कर्ण-रथ चला खींचता भूतल पर जय रेखा।
श्वेत अश्ववर मारुत से बातें करते चलते थे,
नवोन्मेष प्रतिक्षण निज प्राणों में भरते चलते थे।

ध्वजा चंचला थी, रथ जलधर व्याघ्र चर्म मंडित था,
तप्त स्वर्ण सम शोभित जिसमें कर्ण समर पंडित था;
वक्ष तानकर स्यंदन में वह प्रभावान बैठा था,
शांत भाव से इन्द्रलोक में अंशुमान बैठा था।

भरा हुआ है हाहाकारों से सारा युद्धस्थल,
हाय-हाय करते हैं आहतगण रह-रहकर अविकल।
कहीं-कहीं ललकार शृगाल कबड्डी खेल रहे हैं,
श्वानवर्ग सूखी हड्डी को मुख में ठेल रहे हैं।

एक श्वान की जिह्वा घायल हुई अस्थि के द्वारा,
देखो मुख से बाहर बह आई शोणित की धारा;
किंतु पानकर रक्त, और चाटता चला जाता है,
इसी भाँति तृष्णा में पड़कर जीव छला जाता है।

वीर तरे भवसिंधु, मुकुट शोणित सरिता तरते हैं,
हिंसक पशुओं के भीषण रव मन शंकित करते हैं।
गहे हुए करवाल, पड़ा है किसी वीर का यह कर,
यह गज,वाजि गिरे,यह पद्चर हाय मर गए दबकर।

शत्रु-वार का उत्तर भी दे नहीं सके बेचारे,
मन में ही अरमान रह गए यह परलोक सिधारे!
दूर पड़े उस शव को कितने हिंस्र जीव खाते हैं;
उधर खींचते हैं, कुछ मिलकर इधर खींच लाते हैं।

सुनकर जिनका नाम, वीर अब भी थर्रा जाते हैं,
फोड़-फोड़ उनकी आँखें देखो कौवे खाते हैं।
जीवन क्या है, है विडम्बना, मैंने तो यह जाना,
अन्त समय मिट्टी में मिलता है यह भी सच माना।

पर जितना उपकार न हो पाता जीवन में जन से,
उतना पर उपकार अंत में हो जाता है तन से।
शिवा झपटती, गृद्ध भाग जाता है फड़काकर पर,
इधर हो रहा पशु-पक्षी का कैसा सुन्दर संगर!

अर्जुन असु अभिलाषी है उस ओर बाण बरसाता,
दिखा हस्तलाघव अपना सब पांडव चमू भगाता।
तुमुल घर्घराहट या शंखध्वनि ही सुन पड़ती है,
शरण स्थान खोजती रज भी अम्बर में उड़ती है।

पास-पास ही अब दोनों युयुत्सु बढ़ते आते हैं,
दोनों के रथ एक दूसरे पर चढ़ते जाते हैं।
रथ जलयान लगे रण-सागर में द्रुतगति से बहने,
देख पार्थ को, हँसकर रविसुत लगा शल्य से कहने—

"बृहन्नला यह कितने क्षण मम सम्मुख लड़ पाएगा ?
इसे भागना प्राण बचाकर दुस्तर पड़ जाएगा।
रणारम्भ के प्रथम दिवस ही यह तो काँप गया था,
लख वाहिनी भयाकुल होकर पल में हाँफ गया था।"

हतोत्साह कर कहा शल्य ने—"मुझे हँसी आती है,
अंत समय में बुद्धि भ्रष्ट ऐसे ही हो जाती है।
एक काक था एक धनिक के गृह समीप ही रहता,
जो अपने को बड़ा भाग्यशाली था मन में कहता।

"भोजन का अवशिष्ट भाग कुछ उसे नित्य मिल जाता,
इससे था निश्चिन्त क्योंकि था घर बैठे ही खाता।
पुष्ट हो गया, इसीभाँति जब बहुत दिनों तक खाया,
मैं स्वजाति से श्रेष्ठ, गर्व यह उसके मन में आया।

"एक दिवस आया मराल के पास तानकर छाती
बोला—"एक बार हम दोनों की उड़ान हो जाती।"
हँसकर कहा हंस ने—"मैं उड़ बहुत दूर जाऊँगा।"
बोला काग—'भला मैं क्या कुछ पीछे रह जाऊँगा ?

"मैं प्रडीन, उड्डीन, डीन, अवडीन सभी का ज्ञाता,
क्षण भर में सुडीन द्वारा हूँ पार गगन के जाता।
पार भला मेरी गति से तुम कैसे पा सकते हो?
हंसराज किस भाँति साथ तुम मेरे जा सकते हो?'

"लेकिन उड़कर साथ हंस के सिंधु मध्य जब आया,
जल ही जल अवलोक चतुर्दिक मन में अति चकराया।
थककर सलिल पृष्ठ के ऊपर बारबार गिर जाता,
निज मिथ्याभिमान के ऊपर रह-रहकर पछताता।

"चला बाहुबल पर है तू संतरण सिंधु का करने,
सत्य बात यह युद्धभूमि में आज आ गया मरने।
पास नहीं भूधर के जब तक मूर्ख उष्ट्र जाता है—
सबसे बड़ा तभी तक बस वह अपने को पाता है।

"खिला खिला उच्छिष्ट तुझे कौरव गण ने है पाला,
ओ अभिमानी काग! हंस से पड़ा न अब तक पाला।
वीर पार्थ के सम्मुख विद्या सभी भूल जाएगा,
धनुष हाथ से छूट पड़ेगा श्वास फूल जाएगा।"

"तुम रथ हाँको," कहकर रविसुत लगा गर्जना करने,
प्रलय निकट है जान धनंजय लगा हृदय में डरने।
इतने में ही अर्जुन ने रविसुत को विकल बनाया,
प्रतिशोधानल उसका भी अब भड़क आँख में आया।

तुरत चाप पर उसने सर्पाकृति का बाण चढ़ाया,
लेकिन उल्टा बाण क्रोध के कारण देख न पाया।
धनुष कुंडलाकार हुआ जब गुण श्रवणों तक खींचा
चकाचौंध होकर नेत्रों को अमरराज ने मींचा।

लक्ष्य विलोक अभी था उसने अपना शर संधाना,
चाह रहा था बाण धनुष को बन्धन मुक्त बनाना।
किंतु टोककर इसी बीच में कुछ मन में मुसकाकर
बोला शल्य वीर के उर में तीखा शूल चुभाकर—

"लक्ष्य नहीं है ठीक तुम्हारा पुनः उसे संधानो,
देखो तनिक शरासन अपना ऊँचा करके तानो।"
"नहीं पुनः मद्रेश ठीक करता है कर्ण निशाना,
छूट गया है बाण समझ लो एक बार जो ताना।"

अर्जुन को ललकार और फिर अट्टहास कर थोड़ा,
यह कहकर सपक्ष तक्षक उस महारथी ने छोड़ा।
चला बाण कर गर्जन, धरणी होने लगी प्रकम्पित,
छिपने लगे अंशुमाली भी होकर मन में शंकित।

दिया पार्थ को नभ-मंडल पर आता काल दिखाई,
आभापूर्ण दिवा की यामा पड़ी उन्हें दिखलाई।
अंतरिक्ष में काली-काली एक घटा-सी घहरी,
बैठा हुआ विशिख पर था परिचित अर्जुन का बैरी।

उसने शून्य मध्य जाकर तनु अपना खूब बढ़ाया,
मुख फैलाकर वायु वेग से फिर नीचे को आया।
वज्रतुल्य कर हृदय और फिर वह अर्जुन पर छूटा,
मानो प्राण हरण करने को काल मनुज पर टूटा।

किंतु कृष्ण ने निज कौशल से रथ को तुरत बचाया—
तो भी अर्जुन का किरीट कट कर धरती पर आया।
वह किरीट जिसके ऊपर अभिमान पार्थ करते थे,
जिसके कारण वे न मृत्यु से भी मन में डरते थे।

शिव धनु तथा वज्र जिसके सम्मुख निष्फल होता था,
जिस पर वरुण पाश यम का भी दंड विफल होता था।
रविसुत ने दिनकर सम जगमग बाण तूर्ण जब मारा,
तेजोमय वह मुकुट निमिष में चूर्ण हो गया सारा।

व्यर्थ प्रहार देख रविसुत ने बाण कराल चढ़ाया,
मंद-मंद स्वर तभी किसी का झट पीछे से आया—
"फिर वैसा ही बाण चढ़ाओ, पार्थ न अब बच सकता,
एक बार हो गई भूल मैं पुनः नहीं कर सकता।"

"कौन कौन तुम?" "अश्वसेन मैं, बदला लेने आया,"
"तो क्या तुम पहले भी थे जब मैंने बाण चलाया?"
"मरा न वह उस बार चूक हो गई महान् भयंकर,"
"किंतु कर्ण है नहीं चाहता विजय और के बल पर।"

"है संतप्त हृदय मेरा अति, बैर-भावना-वश हूँ,"
"ऐसी सहायता लेने में मैं भी किंतु विवश हूँ।"
"बात मान अन्यथा बाद में रह-रह पछताएगा,"
"लेकिन ऐसी बात कर्ण तो नहीं मान पाएगा।"

"नहीं मानता, तो इस मुख से महाशाप निकलेगा।"
"उसे सहर्ष कर्ण के सिर के ऊपर स्थान मिलेगा।"
"होगा दुष्परिणाम आह जब मेरी कढ़ जाएगी,"
"आखिर वह बेचारी भी तो स्थान कहीं पाएगी।"

"है यह अच्छा नहीं दुखी के उर को अधिक दुखाना।"
"क्या अच्छा है विजय इस तरह अरि के ऊपर पाना?"
"कर स्वीकार विनय, उर मेरा कर्ण बहुत अकुलाता,"
"सर्पराज! दो बार कभी मैं बाण न एक चलाता।

"मृत्यु चाहते हो तुम अर्जुन की, वह शत्रु तुम्हारा,
मत घबड़ाओ क्षण भर में ही मैंने उसको मारा।"
लखने को यह युद्ध शीश पर आकर दिनकर चमका,
दिनकर सुत भी उधर धनञ्जय के सिर पर आ धमका।

क्रुद्ध चक्र-सा घूम-घूमकर सेना काट रहा था,
बड़े-बड़े योद्धाओं की भी माटी छाँट रहा था।
कहते थे सब, वह है केवल गान्धर्वास्त्र* चलाता,
अतः सहस्रों शर उसका यह दिव्य धनुष बरसाता;

---

* इस एक बाण से एक हजार बाण उत्पन्न होते हैं।

मानो उसका धनु सदैव ही वृत्ताकार झुका हो,
अथवा कहीं शरासन के भीतर तूणीर छुपा हो।
खंडित थे रथ, विजय केतु धरणी पर खिन्न पड़े थे,
छिन्न हो गए वाजि सारथी उनसे भिन्न पड़े थे।

तीव्र वायु से भी, रथ उसका इधर-उधर चलता था,
दावानल था कर्ण, शत्रु दल कानन-सा जलता था।
'धरो धरो' को छोड़, न थे कुछ शब्द सुनाई देते,
अगणित राहु-केतु अरिदल के बीच दिखाई देते।

महारथी के ऊपर शत-शत भट यों छूट रहे थे,
मानो शलभ अग्नि में जलने के हित टूट रहे थे।
रवि सम शोभित अंगराज, था बाण किरण बरसाता,
रश्मिजाल सम चमचम होता विशिख जाल फैलाता।

अम्बर पर था एक दूसरा रवि इस धरती पर था,
लेकिन फिर भी बहुत बड़ा उन दोनों में अन्तर था।
डाल रहा था एक रश्मियाँ नभ से अवनीतल पर,
और दूसरा फेंक रहा था भू से नभ के ऊपर।

वह अपनी किरणों से नभ में था प्रकाश फैलाता,
लेकिन इसकी किरणों से था अन्धकार छा जाता।
थी धन राशि उधर जिस पर वह दिनकर चमक रहा था,
मकर व्यूह में इधर दूसरा रवि यह तमक रहा था।

अपने रणकौशल से सेना-संचालन करता था,
अरुण गर्व कर खर्व, शल्य स्यन्दन चालन करता था।
सह प्रहार, था अंग किसी भट का नीला पड़ जाता;
भय के कारण खड़ा-खड़ा कोई पीला पड़ जाता।

हरा देखता जो, उसका मुँह था काला कर देता,
जय लक्ष्मी का अंक निमिष में मुंडों से भर देता।
क्षण-क्षण भर में विविध विविध रंगों से नभ भरता था,
लाल-लाल सारी पृथ्वी को शोणित से करता था।

धनु निर्गत अति तीव्र विशिख अर्जुन को छेद रहे थे,
माधव चालित रथ भी कोसों पीछे खेद रहे थे।
यद्यपि वे मनुहार इष्ट गण को थे बाण चलाते,
श्रवणों तक धनु खींच छोड़ने से पहले थे लाते,

फिर भी उसके आगे उनकी चाल न कुछ चल पाती,
निष्फल छलबल लखकर प्रतिपल थी मेधा चकराती।
रक्त नसों में शेष न था, फिर बुद्धि भला क्या करती ?
धावित रथ के नीचे से थी खिसकी जाती धरती।

रण को लेहय समझ मन में चट करने को धाए थे,
शून्य मध्य निर्मित असंख्य गढ़ अर्जुन ने ढाए थे;
किंतु बुझी जब उर की अरि ने निज अरमान निकाले,
अरि तरकस से निकल पड़े जब अगणित काले-काले।

पाला पड़ा कर्ण से, तब पड़ गए प्राण के लाले,
कम्पित हाथों से धरणी पर अस्त्र-शस्त्र सब डाले।
सबल पुरुष के आगे निर्बल की न कला चलती है,
दीपशिखा काले के सम्मुख कभी नहीं जलती है।

समर-भूमि आक्रीड़ समझ रविसुत प्रतिपल हँसता था,
पर उसका रथ चक्र धरणि में शनैः-शनैः धँसता था।
अचल हो गया जब रथ बिलकुल तब मन में घबराया,
धनुष-बाण रख रथ में नीचे आकर जोर लगाया।

अमित शक्ति के कारण भूतल भी ऊपर उठ आया,
लेकिन रथ का चक्र धरणि से कण भर खिसक न पाया।
लज्जा, क्रोध, अमर्ष, घृणा भर आई उसके मन में,
कभी न ऐसी असफलता थी मिली उसे जीवन में।

महाघोर विकराल बाण रविसुत ने तभी चलाया,
धरा, धराधर कम्पित करता विकट प्रभंजन आया।
सर्प तुल्य उस शर ने अर्जुन उर में विवर बनाया,
छूट गया गाण्डीव एक क्षण उनको चक्कर आया।

कभी सूर्य था, कभी मेघ, झट कभी अनल बनता था,
वही रूप धरता था जिससे पार्थ विकल बनता था।
उपलवृष्टिसम पद, शिर, भुज, नासिका क्षरण करता था,
गर्जन करता अट्टहास कर भीषण रण करता था।

अर्जुन के धनु की प्रत्यंचा तुरत काट देता था,
और उस समय में लोथों से भूमि पाट देता था।
इस विधि शत शत प्रत्यंचायें काटीं उस कर्ण सुभट ने,
तिल भर भी थी नहीं किन्तु पृथ्वी देती रथ हटने।

बोले कृष्ण, "कपिध्वज अपने को अब तनिक सम्हालो,
मत अवकीर्ण बनो ऐसे, हाथों में धनुष उठा लो !
देखो यह राधेय आज है अरि का प्रबल सहायक,
क्योंकि आज उसकी सेना का है यह सेनानायक।

"क्षत्रिय बन सेनानायक का भार लिया है इसने,
सूतपुत्र है सोचो कितना पाप किया है इसने ?
इसे मारकर पापों से भू का उद्धार करो तुम,
भव सागर से वीर कपिध्वज इसको पार करो तुम।

"अब तो साथ धरित्री ने भी इसका छोड़ दिया है,
फिर रण से क्यों डरकर अब मुँह तुमने मोड़ लिया है ?
कर डालो बध तब तक जब तक यह रथ चक्र उठाता,
समय चूक जाने पर फिर नर जीवन भर पछताता।

"स्यंदन के ऊपर जिस क्षण यह वीर पहुँच जाएगा
नहीं काल भी इसके सम्मुख रण में रुक पाएगा।"
बोला कर्ण—"ठहर जा क्षण भर फिर मैं उत्तर दूँगा,
समर-पिपासा तेरी मैं पल भर में शांत करूँगा।

"तू मुझ पर अस्त्र-प्रहार कर यह अधर्म करता है,
धर्मराज का अनुज आज तू नीच कर्म करता है।
अस्त्रहीन पर अस्त्र चलाना पाप कहा जाता है।"
"किंतु शूद्र का मार गिराना पाप न कहलाता है।

"सूतपुत्र होकर भी क्षत्रिय योग्य कर्म करता है"
इसीलिए तो आज श्वान की मृत्यु नीच मरता है"
इधर सूर्यसुत भूमिग्रस्त अपना रथ चक्र उठाता,
कर शर वर्षा उधर, पार्थ निज उर की आग बुझाता।

परशुराम का रूप भयानक आँखों में आता था,
अर्जुन का प्रति बाण वक्ष में आकर घुस जाता था।
तीव्र बाण रविसुत शरीर में थे ऐसे खो जाते—
अगणित जल प्रवाह सागर में जैसे लय हो जाते।

स्वर्ण वर्ण का वह शरीर शोणित से लगा नहाने,
लगा सूर्य को अगणित धाराओं से अर्घ्य चढ़ाने।
हेम शैल से निर्झर बह निकला गैरिक रँगवाला,
अथवा रवि से निकल रही हो तरल ज्वाल की माला।

इस विधि तज कर रक्त लालिमा, अरि को विकल बनाकर,
सूर्य संग सो गया समर में, भटकुल कमल दिवाकर।
अरि के कीर्ति भवन का जो नर शिलान्यास करते हैं,
शूद्र नाम से सम्बोधित होते ऐसे मरते हैं!

था शरीर भू पर, पर रविसुत स्वर्ग गमन करता था,
सकल रणस्थल कौरव दल निज क्रंदन से भरता था।
धीरे-धीरे संगर विद्या लुप्त हुई जाती थी,
दीन-अनाथों के जीवन की संध्या सी आती थी।